पातंजल-योग और जैन-योग : एक तुलनात्मक विवेचन

☐ डॉ. लालचन्द्र जैन

भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। यहाँ के चिन्तकों और मनीषियों के जीवन का परम लक्ष्य सुख प्राप्त करना रहा है। सुख से तात्पर्य इन्द्रिय-सुख से नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-सुख वास्तव में सुख नहीं है। वह तो पराधीन, क्षणभंगुर और बन्ध का कारण होने से दुःख रूप ही है।[1] उन्होंने ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहा है जो आत्म-जन्य, अनन्त और अविनाशी हो।[2] इस सुख की प्राप्ति का अर्थ है—मोक्ष की प्राप्ति। यही कारण है कि भारतीय विचारकों ने चार पुरुषार्थों में मोक्ष को ही महान् और उपादेय बतलाया है। मोक्ष की प्राप्ति योग से हो सकती है, भोग से नहीं। यह योग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है।[3]

योगसाधना अत्यन्त प्राचीन और अनादि है। इसे किसी न किसी रूप में प्रायः भारतीय दर्शन की सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है। यह सत्य है कि विभिन्न दर्शनों में योग का लक्ष्य एक नहीं प्रतीत होता है। किसी ने योग का अभ्यास ऋद्धि-सिद्धियों, (अलौकिक) शक्तियों को प्राप्त करने आदि के लिए माना है तो अन्य ने सांसारिक बन्धनों को तोड़ने के लिए।

योग के पुरस्कर्ता— जिस योग को आचार्यों[4] ने कल्पतरु, उत्तम चिन्तामणि एवं समस्त धर्मों में प्रधान धर्म कहा है[5] और जिस योग से जन्म रूपी बीज नष्ट हो जाता है, कर्म

---

१. सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं सविसयं।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सौक्खं दुक्खमेव तधा॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, १।७६

२. अइसममादसमुत्थं विसयातीदं अण विममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं व सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥ —वही, ३।१३

३. हेमचन्द्र, योगशास्त्र १।१५

४. (क) आ० हरिभद्र, योगबिन्दु, श्लोक ३६-६७।
(ख) हेमचन्द्र, योगदर्शन योगशास्त्र, १।५-१४

५. योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥ —योगबिन्दु, पद्य—३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मलिन आत्मा विशुद्ध हो जाती है, चिरसंचित पाप नष्ट हो जाते हैं, समस्त विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, योगी का कफ, विष्ठा, स्पर्श आदि औषधि रूप हो जाते हैं, अणिमा, लघिमादि ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, चारणविद्या, आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, समस्त महापाप नष्ट हो जाते हैं और "योग" इन दो अक्षरों को न सुनने वाले मनुष्य का जन्म पशु के समान निरर्थक माना जाता है। इस प्रकार के योग के विषय में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि उसका प्रादुर्भाव कब और कहाँ हुआ और उसके पुरस्कर्ता अथवा उद्भावक कौन हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देना सरल नहीं है। पुनरपि दर्शनशास्त्र के इतिहास का आलोड़न करने से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में सर्वप्रथम योग का उद्भव या आविष्कार हुआ था। हमारे इस कथन की पुष्टि निम्नांकित प्रमाणों से होती है—

(१) भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि यहाँ प्रारंभ से आध्यात्मिक धारा बहती रही है। अन्य देशों में इस प्रकार की आध्यात्मिकता का दर्शन नहीं होता है। अवधूत, तपस्वी, परिव्राजक, श्रमण शब्द यहाँ के योग की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

(२) दूसरा प्रमाण यह है कि सभी प्रकार के भारतीय वाङ्मय—काव्य, नाटक, उपन्यास, दर्शन आदि में योग के लक्ष्यभूत मोक्ष का विवेचन उपलब्ध होता है। इस तरह का विवेचन अन्य देशों के वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है।

(३) तीसरा प्रमाण यह है कि योग का स्वरूप और उसकी प्रक्रिया आदि का जितना सूक्ष्म विवेचन भारतीय योग-साहित्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं।

(४) आज भौतिकता की चकाचौंध से व्याकुल होकर यूरोपीय देशों में योग के प्रति आकर्षण होना भी यही सिद्ध करता है कि योग का उद्भव सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ है।

(५) पण्डित सुखलाल संघवी ने भी योग के आविष्कार का श्रेय भारतवर्ष को दिया है। वे कहते हैं—"योग का सम्बन्ध आध्यात्मिक विकास से है। अतएव यह स्पष्ट है कि योग का अस्तित्व सभी देशों और सभी जातियों में रहा है, तथापि इन्कार नहीं कर सकता है कि योग के आविष्कार या योग को पराकाष्ठा तक पहुँचाने का श्रेय भारतवर्ष और आर्यजाति को है। इसके प्रमाण में मुख्यतया तीन बातें हैं—(१) योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि महापुरुषों की बहुलता, (२) साहित्य के आदर्श की एकरूपता, (३) लोकरुचि।"[1]

यद्यपि भारतवर्ष में योग का उद्भव हुआ लेकिन इसके उद्भावक कौन थे ? आज भारतवर्ष में पातंजल-योग बहुत प्रसिद्ध है। इसका प्रसार और प्रचार भी इतना हुआ है कि पातंजल-योग ही "योग" का पर्यायवाची बन गया है। इससे कुछ लोगों ने अनुमान लगाया है कि भगवान् पतंजलि ही योगसिद्धांत के पुरस्कर्ता हैं। लेकिन उनका यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

पतंजलि योग के अनुशास्ता हैं—महर्षि पतंजलि का समय विवादास्पद है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। जैकोबी और एम० हिरियन्ना ने उनका समय

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ. २३२

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवीं शताब्दी का अन्त माना है।[१] डॉ० राधाकृष्णन् ने उनका प्राचीनतम समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी माना है।[२] पतंजलि ने "**योगसूत्र**" नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके प्रथम सूत्र "**अथ योगानुशासनम्**" में आये हुए—"अनुशासन" शब्द से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि पतंजलि योग के प्रवर्तक नहीं हैं। उन्होंने अपने पूर्व प्रतिष्ठित योग-सिद्धान्त का परम्परागत अनुसरण कर उसमें संशोधन कर व्यवस्थित किया और उपदेश दिया है।[३] बलदेव उपाध्याय ने लिखा भी है—"पतंजलि ने योग का केवल अनुशासन किया, अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र दिया है। अतः वे योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधक मात्र हैं। अनुशासन का अर्थ है—उपदेश दिये गये सिद्धांत का प्रतिपादन। पतंजलि ने यह किया है।"[४] इससे सिद्ध है कि पतंजलि के पूर्व भी भारत में योग-साधना के बीज मौजूद थे। अब प्रश्न होता है कि यदि भगवान् पतंजलि योग के उद्भावक नहीं थे तो उनसे पहले किसने योग का आविष्कार किया ? जिसका अनुशासन पतंजलि ने किया है। बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्रनाथ उपाध्याय प्रभृति विद्वानों ने याज्ञवल्क्य-स्मृति का हवाला देते हुए हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता माना है।[५] इनका उपदेश प्रतिपादक शास्त्र "हिरण्यगर्भ योग" के नाम से प्रसिद्ध है। पण्डित सुखलाल संघवी ने हिरण्यगर्भ और उनके योग-सिद्धांत को निःशंक रूप से प्राचीन और पतंजलि से पूर्व सांख्यावलम्बी योग माना है।[६] लेकिन उनको योग-सिद्धांत का आविष्कर्ता नहीं माना है। एक विचारणीय बात यह भी है कि तथाकथित योग के वक्ता हिरण्यगर्भ कौन हैं ? 'महाभारत' में कृष्ण अपने को हिरण्यगर्भ कहते हुए योगियों द्वारा पूजित बतलाते हैं।[७]

यदि स्मृतियों के आधार पर हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदों और वेदों में इनके नाम का उल्लेख योग के प्रवक्ता के रूप में क्यों नहीं मिलता है। यद्यपि वहाँ यौगिक साधना के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं ?

भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख 'ऋग्वेद' में मिलता है। 'ऋग्वेद' प्राचीनतम ग्रन्थ है। अतः निश्चित है कि भगवान् ऋषभदेव ही योग के पुरस्कर्ता थे। इनकी योगसाधना का विवेचन प्रथमानुयोग से सम्बन्धित जैन वाङ्मय में उपलब्ध है। दूसरी बात यह है कि खजुराहो के संग्रहालय में भगवान् ऋषभदेव की योग अवस्था में मूर्ति है। इससे भी सिद्ध है कि भगवान् ऋषभ ही योग के पुरस्कर्ता थे।

---

१. एम. हिरियन्ना, भा. द. रू. पृष्ठ २६९ और उसकी पादटिप्पणी
२. डॉ० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासफी भाग २, पृष्ठ ३४१ का पादटिप्पण
३. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह पृष्ठ १२६
४. बलदेव उपाध्याय, भा. द. पृष्ठ २८५-२८६
५. (क) हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। —सांख्ययोगदर्शन पृष्ठ १
(ख) बलदेव उपाध्याय, भा. द. पृष्ठ २८५
(ग) नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य पृष्ठ ८
६. समदर्शी आ. हरिभद्र (गुजराती संस्करण) पृष्ठ ६८-६९
७. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
यौगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः॥

—महाभारत, शांतिपर्व २४२।९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग का अर्थ—"योग" का साधारण अर्थ जोड़ना या मिलाना होता है। "योग" शब्द की निष्पत्ति "युज्" धातु से हुई है। यह धातु दो अर्थों में प्रयुक्त हुई है—जोड़ना और समाधि। इन दोनों अर्थों में योग शब्द भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध है। इसके बावजूद अध्यात्म-विकास के संदर्भ में योग का अर्थ समाधि होता है।

जैनदर्शन में "योग" शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उमास्वाति ने मन, वचन और काय की प्रक्रिया के अर्थ में "योग" शब्द का प्रयोग किया है।[1] इसी प्रकार भट्ट अकलंकदेव, वीरसेन आदि के ग्रन्थों में आत्म-प्रदेशों के हलन-चलन और आत्म-प्रदेशों के संकोच-विकोच के अर्थ में योग शब्द प्रयुक्त हुआ है।[2]

भट्ट अकलंकदेव ने "योजनं योगः" इस निरुक्ति के अनुसार योग का अर्थ संबंध किया है।[3] वीरसेन ने भी "युज्यत् योगः" इस प्रकार योग की निरुक्ति करके योग का अर्थ संबंध माना है।[4] इसी प्रकार जैन वाङ्मय में जीव की शक्तिविशेष और वर्षादि काल की स्थिति के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग मिलता है।[5] लेकिन अध्यात्म-विकास के संदर्भ में योग के उपर्युक्त अर्थ सार्थक नहीं हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि जैन-दर्शन में 'योग' शब्द का अर्थ अध्यात्म-विकास के संदर्भ में उपलब्ध नहीं है। आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलंकदेव, पद्मनंदि प्रभृति आचार्यों ने योग का अर्थ समाधि, सम्यक् प्रणिधान, ध्यान, साम्य, स्वास्थ्य, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग किया है।[6] उपर्युक्त अर्थों के अलावा जैनदर्शन में योग के लिए संवर शब्द का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ, विशेषकर आगम साहित्य और द्रव्यानुयोग वाङ्मय में। अतः योग का अर्थ संवर भी है।

अतः हम कह सकते हैं कि सांख्य-योगदर्शन में जिस ध्यान की प्रक्रिया को योग कहा गया है, उसे बौद्ध-दर्शन में समाधि और जैन-दर्शन में संवर कहा है। पंडित सुखलालजी संघवी ने कहा भी है—"सांख्य परिव्राजकों की ध्यान-प्रक्रिया योग के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुई और बुद्ध की ध्यान-प्रक्रिया समाधि के नाम से व्यवहृत हुई, तो आजीवक और निर्ग्रन्थ परम्परा में इसके लिए संवर शब्द विशेष प्रचार में आया। इस तरह हम कह सकते हैं कि योग, समाधि, तप और संवर ये चार शब्द आध्यात्यिक साधना के समग्र अंग-उपांगों के सूचक हैं और इसी

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६।१

२. भट्ट अकलंकदेवः, तत्त्वार्थवार्तिक ६।१।१०, पृष्ठ ५०५

३. 'अयं योग शब्दः संबंधपर्यायवाचिनो द्रष्टव्यः ।' वही ७।१३।४, पृष्ठ ५४०

४. षट्खण्डागम, पु. १, खं. १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १३९

५. 'योगश्च वर्षादिकालस्थितिः ।' —दर्शनपाहुड, टीका, ९।८

६. (क) योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः ।—आ. पूज्यपाद, स. सि. ६।१३, पृष्ठ २४६
(ख) युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।
—भट्ट अकलंकदेव, त. वा. ६।१।१२, पृष्ठ ५०५, और भी देखें-६।१२।८ पृष्ठ ५२२
(ग) साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः । —पद्मनदि पंचविंशतिका ४।६४

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में वे व्यवहार में प्रतिष्ठित भी हुए हैं।"[१]

वैदिक साहित्य में योग—वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' माना जाता है। उसके अनेक मंडलों में "योग" शब्द का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर योग जोड़ने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[२]

उपनिषद्—ऋग्वेद के पश्चात् उपनिषदों का अनुशीलन करने पर विभिन्न उपनिषदों में योग के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि में आत्म-साक्षात्कार और समाधि के अर्थ में योग, ध्यान और तप शब्द का प्रयोग मिलता है,[3] वहीं अर्वाचीन उपनिषदों में योग के विविध अंगों का भी वर्णन मिलता है।[४]

गीता—गीता में योग के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इसके अलावा योग प्रक्रिया और उसके सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है।[५]

बौद्धदर्शन—'विसुद्धिमग्ग' में शील-समाधि का विवेचन उपलब्ध है। बौद्धदर्शन में ध्यान की प्रक्रिया को समाधि कहा गया है, अतः यहाँ योग का अर्थ समाधि है। शील के द्वारा अकुशल कर्म दूर हो जाते हैं और समाधि अवस्था में कुशल कर्मों की ओर चित्त एकाग्र हो जाता है। चित के एकाग्र हो जाने से तृष्णा और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। समाधि दो प्रकार की है—उपचार समाधि और अप्पना समाधि। उपचार समाधि में चित्त एकाग्र होता है और अप्पना समाधि में चित्त को अत्यधिक शुद्ध बनाने की प्रक्रिया होती है। इस प्रकार क्रमशः प्रज्ञा उत्पन्न होने पर अर्हत् अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसके बाद स्कन्धों, पुनर्जन्म, दुःख तथा पीड़ा से आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।

न्यायदर्शन—यद्यपि महर्षि गौतम के न्यायदर्शन में प्रमुख रूप से प्रमाणादि सोलह पदार्थों का विवेचन हुआ है लेकिन योग सम्बन्धी कुछ प्रक्रिया का भी इसमें उल्लेख मिलता है। जैसे समाधि विशेष के अभ्यास से प्रत्यक्ष रूप से तत्त्वज्ञान होता है।[६] अरण्य, पर्वतगुहा, बालुमय नदी के किनारे आदि एकान्त स्थानों में योगाभ्यास करना चाहिए।[७] यम और नियम के द्वारा

---

१. पं. सुखलाल संघवी-समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर (राजस्थान), १९६३, पृष्ठ ६९

२. सुरेन्द्रदास गुप्ता, भा. द. भाग१, पृ. २३४.

३. "योग आत्मा" —तै. उ. २।४
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ —कठोपनिषद् २।३।११

४. श्वेताश्वतरोपनिषद् २।८-१५

५. गीता के अध्याय ६ और १३ दृष्टव्य हैं।

६. 'समाधिविशेषाभ्यासात्।' —न्यायदर्शन ४।२।३८

७. अरण्य-गुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। —न्यायदर्शन ४।२।८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मसंस्कार अर्थात् अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि हो जाती है और "योगाच्चाध्यात्म-विध्युपायैः" अर्थात् तपश्चर्या, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणा रूप अध्यात्मविधि से अपवर्ग प्राप्त हो सकता है।[1]

वैशेषिकदर्शन— महर्षि कणाद के वैशेषिकसूत्र में भी योग विषयक अंगों का एक दो सूत्रों में उल्लेख हुआ है।[2] जैसे अभिषेचन, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, व्रीह्यादि के प्रोक्षण, दिशा के नियम, काल के नियम। ये प्रकारान्तर से योग के अंग हैं।

कपिलदर्शन—महर्षि कपिल ने सांख्यसूत्र की रचना की है। इसमें योग-प्रक्रिया प्ररूपक कुछ सूत्र आए हुए हैं। जैसे ध्यान, धारणा और आसन का स्वरूप आदि।[3]

ब्रह्मसूत्र—महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में भी योगांगों का उल्लेख मिलता है।[4]

पातंजलदर्शन—भगवान् पतंजलि ने योग का सांगोपांग विवेचन किया है। उनका 'योगसूत्र' योग विषय का अविकल ग्रन्थ है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं।[5] अतः इस परपंरा में योग-सिद्धांत निरूपक विपुल साहित्य उपलब्ध है।

सांख्य-योगदर्शन में ध्यान को ही प्रमुख रूप से योग कहा गया है। योग की परिभाषा देते हुए लिखा है कि चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।[6] इसके पश्चात् योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

जैनदर्शन—जैन आगमों में योग के लिए तप, ध्यान और संवर शब्दों का प्रयोग बहुधा किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, पूज्यपाद, हरिभद्र, हेमचन्द्र, योगचन्द्र, नागसेन, पं० आशाधर, यशोविजय आदि जैनाचार्यों ने भारतीय योगसाहित्य को संवर्द्धित किया है। यह साहित्य निम्नांकित है—

आचार्य उमास्वाति	: तत्त्वार्थसूत्र (९ वाँ अध्याय),
पूज्यपाद	: समाधितंत्र, इष्टोपदेश,
स्वामिकार्तिकेय	: कार्तिकेयानुप्रेक्षा,
हरिभद्र	: योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योगशतक, षोशडप्रकरण।,

---

१. तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मासंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः। —न्यायदर्शन ४।२।४६-४७

२. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवासवानप्रस्थ-यज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। —वैशेषिकदर्शन, ६।२।२

३. रागोपहतिर्ध्यानम्। —३।३०, वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः।—३।३१, धारणासन्स्वकर्मणा तत्सिद्धिः। —३।३२, निरोधाश्छर्दिविधारणाभ्याम्। —३।३३, स्थिरसुखमासनम्। —३।३४

४. आसीनः संभवात्। ध्यानाश्च। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। —४।१।७-८ और ११

५. भा. द. (संपादक डॉ. न. कि. देवराज) पृष्ठ सं. ३९४-३९५

६. योगसूत्र १।२

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगेन्द्रदेव : परमात्मप्रकाश, अध्यात्मसंदोह, सुभाषितरत्नसंदोह,
गुणभद्र : आत्मानुशासन,
अमितगति : योगसार,
शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव,
हेमचन्द्र : योगशास्त्र,
योगचन्द्र : योगसार,
नागसेन : तत्त्वानुशासन,
पं० आशाधर :—अध्यात्मरहस्य,
यशोविजय : अध्यात्मसार, अध्यात्मनोपनिषद्, योगलक्षण, योगविंशिका।

इसके अलावा विभिन्न भाषाओं में लिखित काव्य, नाटक और उपन्यासों में भी योग का विवेचन हुआ है। इतने विपुल साहित्य में योग सिद्धांतों के उपलब्ध होने का कारण जैन धर्म दर्शन का निवृत्ति प्रधान होना और मोक्ष प्राप्ति प्रधान होना है।

आचार्य कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' में योग के स्थान पर उपयोग का प्रयोग मिलता है। उन्होंने उपयोग के तीन भेद—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग बतलाकर उनका सूक्ष्म विवेचन किया है और शुद्धोपयोग को मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया है।[1]

'**नियमसार**' में उन्होंने योग की परिभाषा करते हुए कहा है कि विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैन-कथित तत्त्वों में जो अभिनिवेश को लगाता है, उसका निज भाव योग कहलाता है।[2]

हरिभद्र ने अपनी कृतियों में योग का सूक्ष्म विवेचन किया है। '**योगविंशिका**' में उन्होंने सर्वविशुद्ध धर्मव्यापार को योग कहा है।[3]

यशोविजय ने समिति और गुप्ति के साधारण धर्मव्यापार को योग कहा है।[4]

शुभचन्द्राचार्य ने जन्म ग्रहण करने से उत्पन्न क्लेशों को दूर करने को योग कहा है।[5]

उपर्युक्त योग की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संसारी जीव क्रोधादि कषायों से संतप्त होकर दुःखी है। इस असहनीय दुःख का विनाश करने के लिए भव्य जीव जिस निर्दोष, निरवद्य क्रिया का अनुष्ठान करता है, वह योग कहलाता है। सम्पूर्ण योग सम्बन्धी वाङ्मय में यही एकमात्र अर्थ विवक्षित है। अतः योग का पर्यवसान आत्मशक्तियों के पूर्ण विकास में है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीन योग के अंग बतलाये

---

१. प्रवचनसार १।७, ९११-१२
२. **नियमसार**, परमभक्त्यधिकार, गा. १३९
३. मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं। —**योगविंशिका**, १
४. समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वं योगत्वं। —**योगदृष्टिसमुच्चय**(गुजराती) भूमिका पृ.२१
५. भवप्रभवदुर्वार-क्लेश-सन्तापपीडितम्।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते। —शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव** १।१८ और भी देखें १।३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।[१] महाव्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय, चारित्र और तप सम्यक्चारित्र के प्रभेद हैं।[२]

पातंजलदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के आठ अंग माने गये हैं।

यम और महाव्रत—'यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः' अर्थात् जो अवांछनीय कार्यों से निवृत्त कराते हैं, उन्हें यम कहते हैं। यम का अर्थ संयम है। असत् प्रवृत्तियों को रोकने के लिए सामान्य अशुद्धियों को दूर करना आवश्यक होता है। योगदर्शन में यम पांच प्रकार का बतलाया गया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[3]

जैनदर्शन में "यम" के लिए महाव्रत का प्रयोग मिलता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, इन अशुभ कर्मों का त्याग करना व्रत कहलाता है।[४] अणुव्रत और महाव्रत की अपेक्षा से व्रत के दो भेद किये गये हैं। अणुव्रत का अर्थ है हिंसादि का स्थूल रूप (एकदेश) से त्याग करना। इसका पालन गृहस्थ करते हैं। महाव्रत का अर्थ होता है हिंसादि का सूक्ष्म रूप से सर्वत्याग करना। इसका पालन मुनि करते हैं।[५] शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि अहिंसादि महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के कारण हैं, महान् पुरुषों ने इनका आचरण किया है, महान् पदार्थ अर्थात् मोक्ष के देने वाले हैं और स्वयं निर्दोष हैं। इसलिए अहिंसादि महाव्रत कहलाते हैं।[६] यम तो केवल निषेधात्मक मात्र हैं और महाव्रत भावात्मक भी हैं। प्रत्येक महाव्रत की पांच भावनाएँ हैं। इनका अभ्यास करने से वैराग्य होता है और व्रत स्थिर रहते हैं।[७]

अष्ट प्रवचन-माता : गुप्ति और समिति—महाव्रती को अपने व्रतों का दृढतापूर्वक पालन करने के लिए और नवीन कर्मों को रोकने के लिए मन, वचन एवं काय गुप्ति तथा ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग, इन पांच समितियों का पालन करना भी आवश्यक है।

गुप्ति का अर्थ है रक्षा करना। जिसके द्वारा संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है, उसे गुप्ति कहते हैं। योगी महाव्रती को मन, वचन और काय की प्रवृत्ति पर संयम रखना आवश्यक है। इनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से नवीन कर्मों का आना नहीं रुक सकता है। इसलिए उमास्वाति ने मन-वचन-काय रूप योगों का अच्छी तरह से निरोध करने को गुप्ति कहा है।[८]

---

१. 'ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः।' —**योगशास्त्र**, १।१५.
२. त० सू० ९।२-३, **ज्ञानार्णव** ८।२-३
३. **योगसूत्र**, २।३०
४. उमास्वाति, **त० सू०**, ७।१
५. वही, ७।२ और भी देखें सर्वार्थसिद्धि टीका
६. **ज्ञानार्णव** १८।१
७. वही १८।२ और भी देखें **तत्त्वार्थसूत्र** ७।३-८
८. **त० सू०** ९।४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्रती को किसी न किसी प्रकार की चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं। अतः उसे इस प्रकार की चेष्टाएँ करनी चाहिए जिससे सूक्ष्म प्राणियों को भी पीड़ा न हो। ऐसा करने से नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता है। इस सम्यक् आचरण या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।[१]

जिस मार्ग पर लोगों का आना-जाना शुरू हो गया हो, उस मार्ग पर सूर्य की किरणों के निकलने पर जीवों की रक्षा के लिए नीचे देखकर चलना ईर्यासमिति है।

महाव्रती द्वारा संदेह उत्पन्न करने वाली द्वयर्थक भाषा न बोलना तथा निर्दोष, सर्वहितकर, परिमित, प्रिय और सावधानीपूर्वक वचन बोलना भाषासमिति कहलाती है।

निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणासमिति है। शास्त्र आदि को भलीभांति देखकर, प्रमादरहित होकर रखना-उठाना आदान-निक्षेप समिति है।

निर्जीव स्थान पर सावधानीपूर्वक कफ, मल, मूत्र आदि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।

हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि आचार्यों ने तीन गुप्तियों और पांच समितियों को अष्ट प्रवचन-माता कहा है। क्योंकि ये योगियों के चारित्र की कर्म-रज से उसी प्रकार रक्षा करती हैं, जिस प्रकार माता अपने पुत्र के शरीर की धूलि से करती है। इसलिए महाव्रती को इनका पालन करना आवश्यक है।[२] योगदर्शन में यमों की रक्षा के लिए इस प्रकार का कथन नहीं है।

नियम—नियम योग का दूसरा अंग माना गया है। **'नियमन्ति प्रेरयन्ति नियमाः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार नियम का अर्थ है शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना। आचार्य कुन्दकुन्द के **'नियमसार'** में कहा गया है कि जो नियम से किया जाता है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप नियम है।[३] **योगसूत्र** में नियम के पाँच भेद बतलाये गये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।[४]

शौच—शौच का अर्थ होता है पवित्र या शुद्ध। योगदर्शन में शौच दो प्रकार का बतलाया गया है—बाह्य शौच और आन्तरिक शौच। मृत्तिका, जल आदि पदार्थों से पवित्र होना, स्नान करना, पवित्र भोजन करना बाह्य शौच है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा

---

१. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ९।९

२. (क) जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते॥
—शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव** १८।१९, पृ. १७८

(ख) एताश्चारित्रगात्रस्य जननात् परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता॥
—हेमचन्द्र, **योगशास्त्र** १।४५ और भी देखें १।४६

३. "णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।"—**नियमसार** गा. ३

४. **योगसूत्र** २।३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा चित्तमलों को धोना आन्तरिक शौच कहलाता है।[1] 'ज्ञाताधर्मकथा' में शुक परिव्राजक इसी प्रकार के शौचधर्म का व्याख्यान करता है।[2]

जैन-परम्परा में योगी के लिए इस प्रकार के बाह्य शौच का कोई महत्त्व नहीं है। **'ज्ञाताधर्मकथा'** में बाह्य शौच का आलंकारिक रूप से निराकरण किया गया है। मल्ली चोक्खा परिव्राजिका से कहती है कि जिस प्रकार रुधिरलिप्त वस्त्र रुधिर में धोने से शुद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार प्राणातिपात रूप मिथ्यादर्शन शल्य से किसी प्रकार की शुद्धि नहीं होती है।[3] बाह्यशुद्धि तो सभी संसारीजन करते ही हैं।

पद्मनन्दि ने भी कहा है—"यदि प्राणी का मन मिथ्यात्वादि दोषों से मलिन हो रहा है तो गंगा, समुद्र एवं पुष्कर आदि सभी तीर्थों में सदा स्नान करने पर भी प्रायः अतिशय विशुद्ध नहीं हो सकता। जिस प्रकार मद्य के प्रवाह से परिपूर्ण घट को बाहर से पवित्र जल से अनेक बार धोने से शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार जलादि से पवित्रता नहीं आती है।[4]

योगदर्शन के आन्तरिक शौच की तरह जैनदर्शन में आन्तरिक शुद्धि को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस आन्तरिक शुद्धि के लिए जैनदर्शन में महाव्रत की भावनाओं, गुप्तियों, समितियों का आचरण करना योगी के लिए अनिवार्य होता है।

बारह भावनाएँ—जैन योग सिद्धांत में अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, अशौच, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधिदुर्लभ—ये बारह भावनाएँ बतलाई गई हैं।[5] इनके बार-बार चिन्तन से समदृष्टि या समत्व का भाव विकसित हो जाता है। मन के समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए योगाचार्यों ने इन्हें प्रथम सीढ़ी कहा है।[6]

मैत्री, करुणा आदि भावना—आन्तरिक शुद्धि के लिए योगदर्शन की तरह जैनदर्शन में भी मैत्री आदि भावनाओं का चिन्तन करने की प्रेरणा दी गई है। उमास्वाति ने प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणा-वृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भाव की भावना करने की प्रेरणा दी है।[7]

शुभचन्द्राचार्य ने कहा कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का मोह नष्ट करने और धर्मध्यान करने के लिए चित्त में चिन्तन करना चाहिए।[8]

---

१. सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता, भा. द. ई. भाग १, पृष्ठ २७७
२. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र (सम्पादक पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल), पृष्ठ १९२
३. वही, पृष्ठ २९०
४. पं. वि., १।९५
५. त. सू. ९।७
६. ज्ञानार्णव २।५-७, बारसणुवेक्खा ८९-९१
७. त. सू. ७।६
८. ज्ञानार्णव २७।४, १५-१८ और हेमचन्द्र योगशास्त्र ४।११७, १२२, मैत्री, करुणा आदि चारों भावनाओं के विस्तृत स्वरूप के विवेचन के लिए दृष्टव्य ज्ञानार्णव २७-५, हेमचन्द्र योगशास्त्र ११८-१२१।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतोष—योगदर्शन में दूसरा नियम संतोष माना गया है। संतोष नियम के अनुसार योगी की इच्छाओं को रोककर जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना पड़ता है। तृष्णा के होने से असन्तोष होता है। तृष्णा क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के कारण होती है। इसलिए जैन-योग-सिद्धान्त में कषायों को जीतने का उपदेश योगी को दिया गया है।[१] कषायों का शमन हो जाने से इच्छाओं का निरोध स्वयं हो जाता है।

जैनदर्शन में भी सन्तोष भावना का चिन्तन करने का योगी को उपदेश दिया गया है। आचार्य जयसेन ने सन्तोषभावना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि मान-अपमान में समता से और अशन-पानादि में यथालाभ से समताभाव रखना संतोषभावना है।

तपस्—नियम का तीसरा भेद तपस् या तप नियम है। क्लेश, कर्मवासना का शुद्धीकरण जिसके द्वारा होता है वह तप कहलाता है। योगदर्शन में सुख-दुःख, आतप-शीत, भूख-प्यास आदि का सहन करना तप कहा गया है। **भगवती आराधना** में पाँच असंक्लिष्ट भावनाओं में तप नामक भावना बतलाई गई है।[२] आचार्य शिवकोटि ने बतलाया है कि तपश्चरण से इन्द्रियों का मद नष्ट हो जाता है और इन्द्रियाँ वशवर्ती हो जाती हैं।[३] आचार्य जयसेन ने भी कहा है कि तपभावना से विषय-कषाय पर विजय मिल जाती है।[४]

जैनदर्शन में बारह प्रकार के तप बतलाये गये हैं, जिनका वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—६ बाह्य तप और ६ आभ्यन्तर तप। **अनशन**, **अवमौदर्य**, **वृत्ति-परिसंख्यान**, **रस-परित्याग**, **विविक्त-शयनासन** और **कायक्लेश**, ये छह बाह्य तप हैं तथा **प्रायश्चित्त**, **विनय**, **वैयावृत्य**, **स्वाध्याय**, **व्युत्सर्ग** और **ध्यान**, ये छह आभ्यन्तर तप हैं।[५] योगदर्शन के तप नियम की तुलना जैनदर्शन में बतलाये गये बाह्य तपों से की जा सकती है। इसके अलावा तप-नियम की तुलना जैनदर्शन में मान्य "परीषहजय" से की जा सकती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने संवर के कारणों में "परीषहजय" को भी बतलाया है। स्वामी कार्तिकेय ने अत्यन्त भयानक भूख आदि की वेदना को शान्त भाव से सहन करना परीषहजय कहा है।[६] उमास्वाति ने परीषहजय की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि संवर के मार्ग से भ्रष्ट न होने के लिए कर्मों की निर्जरा के लिए परीषह को जीतना आवश्यक है।[७] परीषह के बाईस प्रकार हैं।[८]

क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश,

---

१. आ. शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव** सर्ग २०, पृष्ठ १९८-९९

२. तवभावना य सुदसत्तभावणेगत्त भावणा चेव।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा॥ —**भगवती आराधना**, गा० १८७

३. वही, १८८

४. **पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति**, गा० १७३, पृ० २५४

५. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र ९।१९-२०

६. सो वि परिसहविजओ छुहादि पीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं॥—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ९८

७. तत्त्वार्थसूत्र ९।८

८. वही ९।९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और **अदर्शन**। उपर्युक्त बाईस परीषहों में एक जीव के एक साथ उन्नीस परीषह होने का उल्लेख जैन आचार्यों ने किया है, क्योंकि शीत और उष्ण में से एक और चर्या, निषद्या व शैय्या परीषहों में से कोई एक ही हो सकता है।

स्वाध्याय—बार-बार मोक्ष प्रतिपादक आध्यात्मिक शास्त्रों का अध्ययन करना **योगशास्त्र** में स्वाध्याय नामक नियम कहा गया है। इसकी तुलना जैनदर्शन में मान्य श्रुतभावना और स्वाध्याय नामक आन्तरिक तप से की जा सकती है। आचार्य जयसेन के अनुसार **प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग** और **द्रव्यानुयोग** रूप चार प्रकार के आगमों का अभ्यास करना श्रुतभावना कहलाती है।[1] आ० पूज्यपाद ने आलस्य को त्याग कर ज्ञान की आराधना करने को स्वाध्याय तप कहा है।[2] **मूलाचार** और **तत्त्वार्थसूत्र** में स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाये हैं। **परियट्ठणाय** (आम्नाय), **वायण** (वाचना), **पडिच्छणा** (पृच्छना), **अणुपेहया** (अनुप्रेक्षा) और **धम्मकहा** (धर्मोपदेश),[3] इनके स्वरूपादि का विस्तृत विवेचन **तत्त्वार्थसूत्र** की टीकाओं में उपलब्ध है।

ईश्वर-प्रणिधान—फलों की आकांक्षा किये बिना सभी प्रकार के कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। जैनदर्शन में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी माने गये हैं। प्रत्येक योगी इनके प्रति निष्काम भाव से श्रद्धा रखता है। इनके अलावा और किसी अन्य ईश्वर (जगत् के कर्ता-धर्ता) में इस प्रकार भक्ति भावना नहीं रखता है।

आसन—योगदर्शन की भाँति जैनदर्शन में भी योगी के लिये आसन का विधान किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने **'ज्ञानार्णव'** में और आचार्य हेमचन्द्र ने **'योगशास्त्र'** में आसन के योग्य स्थान और आसन के भेदों का विवेचन किया है।[4] काष्ठ का तख्ता, शिलापट्ट, भूमि और बालुयुक्त स्थान आसन के योग्य हैं।[5] **योगसिद्धान्तचन्द्रिका** में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक आसनों के भेद बतलाये गये हैं।[6] आचार्य शुभचन्द्र[7] ने **पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन** और **कायोत्सर्गासन** को ध्यान के योग्य बतलाया है। हेमचन्द्र ने उपर्युक्त आसनों के अलावा **भद्रासन, दण्डासन, उत्कुटकासन** और **गोदोहिकासन**

---

१. **पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति**, गाथा १७५, पृ० २५८
२. आ० पूज्यपाद, **सर्वार्थसिद्धि**, ९।२०, पृ० ४३९
३. (क) वट्टकेर, **मूलाचार**, गा० २९३
 (ख) उमास्वाति, **तत्त्वार्थसूत्र**, ९।२५
४. (क) **ज्ञानार्णव**, २८।१-११
 (ख) **योगशास्त्र**, ४।१२३-१३६.
५. दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतस्थले।
 समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम्॥ —**ज्ञानार्णव**, २८।९
६. डॉ० (कु.) विमला कर्णाटक, **भारतीय दर्शन** (सं०—डॉ० न० कि० देवराज) पृ० ४१३
७. **ज्ञानार्णव**, २८।१०

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बतलाये हैं।[1] योगी उसी आसन को ध्यान का साधन बना सकता है, जिससे मन स्थिर रह सके। योगी अमुक आसन ही करे, ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है।[2]

आसन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि जितेन्द्रियों को आसन-जय करना चाहिए, इससे समाधि में थोड़ा भी खेद नहीं होता है। जिसको आसन का अभ्यास नहीं होता है, उस योगी का शरीर स्थिर नहीं होता है, जिससे योगी को खेद होता है। आसन को जीतने वाला योगी पवन, गर्मी, तुषार आदि और विभिन्न प्रकार के जीवों से पीड़ित होकर भी खेद-खिन्न नहीं होता है। अतः योगी को आसनजयी होना चाहिए।[3]

प्राणायाम—पतंजलि ने योग का चौथा अंग प्राणायाम बतलाया है। 'प्राण+आयाम प्राणायाम। प्राण का अर्थ है वायु और आयाम का अर्थ है रोकना। अतः प्राणायाम का अर्थ हुआ—श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया का निरोध करना।[4] आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने प्राणायाम के तीन भेद योगदर्शन की भाँति बतलाये हैं—**पूरक, कुम्भक और रेचक**।[5] किसी आचार्य ने प्राणायाम के उपर्युक्त तीन भेदों में प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर को मिलाकर सात प्रकार का प्राणायाम बतलाया है।[6] उपर्युक्त प्राणायामों का विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन **ज्ञानार्णव**[7] और **योगशास्त्र**[8] में उपलब्ध है।

योगदर्शन की भाँति जैनदर्शन में भी प्राणायाम की आवश्यकता योगी के लिए प्रतिपादित की गई है, लेकिन इसके प्रतिपादन का उद्देश्य या प्रयोजन अलग-अलग प्रतीत होता है। जैनदर्शन में ध्यान की सिद्धि और मन की एकाग्रता से आत्म-स्वरूप में स्थिर होने के लिए प्राणायाम की प्रशंसा की गई है।[9] बिना प्राणायाम के मन को नहीं जीता जा सकता है।[10] हेमचन्द्र कहते हैं कि यद्यपि मन और वायु दोनों परस्पर अविनाभावी हैं, लेकिन इनमें से किसी एक के निरोध करने से दूसरे का भी निरोध हो जाता है। मन और वायु का निरोध हो जाने से इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का नाश हो जाता है और ऐसा होने पर मोक्ष हो जाता है।[11] शुभचन्द्र ने भी कहा है कि प्राणायाम से चित्त स्थिर हो जाता है और चित्त के

---

१. हेमचन्द्र, **योगशास्त्र**, ४।१२४

२. जायते स्थिति येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यम् आसनं ध्यान साधनम् ॥ —वही, ४।१३४.

३. शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव**, २९।३०-३२

४. "प्राणायमो गतिच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्मतः।" —योगशास्त्र, ५।४

५. (क) शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव** २९।३
(ख) हेमचन्द्र, **योगशास्त्र** ५।४

६. **योगशास्त्र** ५।५

७. **ज्ञानार्णव** २९।३-१०२

८. **योगशास्त्र** ५।४-२७३

९. सुनिर्णीतसुसिद्धांतैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यान सिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ —**ज्ञानार्णव**, २९-१

१०. वही, २९।२

११. **योगशास्त्र**, ५।२-३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिर हो जाने से संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह हो जाता है।[१] मन को वश में करके भावना करने वाले मनुष्य की अविद्या का क्षण मात्र में विनाश हो जाता है और कषाय क्षीण हो जाती है। प्राणायाम से कामदेव रूप विष और मन पर विजय प्राप्त हो जाती है और समस्त रोगों का क्षय हो जाता है तथा शरीर में स्थिरता आ जाती है।[२] **परमात्म-प्रकाश** के टीकाकार ब्रह्मदेव ने भी कहा है कि कुम्भक आदि प्राणायाम से शरीर नीरोग हो जाता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि योगदर्शन की भाँति जैनदर्शन में भी योगियों के लिए प्राणायाम उपादेय बतलाया गया है। लेकिन दोनों की उपादेयता में अन्तर यह है कि योगदर्शन में प्राणायाम ध्यान का कारण माना गया है, लेकिन जैनदर्शन में प्राणायाम योगी के लिए कथंचित् रूप से उपादेय कहा गया है। प्राणायाम मोक्ष का साधक नहीं है, यद्यपि प्राणायाम से संसार के शुभ-अशुभ, भूत-भविष्यत् जाने जाते हैं और दूसरों के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति है। इस प्रकार लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि प्राणायाम से होती है। लेकिन यह ध्यान का कारण नहीं है। भट्ट अकलंकदेव कहते हैं कि श्वासोच्छ्वास के रोकने के दुःख से शरीर के नष्ट होने की संभावना होती है।[४]

आचार्य शुभचन्द्र भी कहते हैं कि प्राणायाम से विक्षिप्त मन स्वस्थ नहीं होता है। पवन का चातुर्य शरीर को सूक्ष्म, स्थूलादि करने का साधन है, इसलिए जो लोग मुक्ति चाहते हैं उनके लिए विघ्न का कारण है। प्राणायाम से आत्मा को संदेह और पीड़ा होती है। प्राणायाम से प्राणों को रोकने से पीड़ा होती है, पीड़ा से आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान से तत्त्वज्ञ मुनि अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है।[५] क्योंकि आर्तध्यान संसार का कारण है। हेमचन्द्र ने भी यही कहा है।[६] ब्रह्मदेव ने भी कहा है कि प्राणायाम में वायु का धारण इच्छा-पूर्वक किया जाता है, इच्छा मोह से उत्पन्न विकल्प है और मोह का कारण भी है। वायु धारण करने से मुक्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि वायु धारण करना शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं है। अतः प्राणायाम मोक्ष का कारण नहीं है।[७]

प्रत्याहार—योग का पांचवां अंग प्रत्याहार है। पातंजल योग की तरह जैन योग में भी प्रत्याहार को उपादेय माना गया है। इन्द्रियों का यह स्वभाव होता है कि वे स्वेच्छाचारिता से अपने विषय की ओर आकृष्ट होती हैं। योगी को इन इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक होता है। उन्हें बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना अर्थात् मन के वशवर्ती बनाना

---

१. स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥ —**ज्ञानार्णव** २९।१४, १०।११

२. ज्ञानार्णव २९।१२, १००-१०१

३. ब्रह्मदेव, परमात्मप्रकाश टीका, २।१६२ पृष्ठ २७४

४. भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थ. वार्तिक ९।२७।२३ पृष्ठ ६२७

५. शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव ३०।४-११

६. योगशास्त्र ६।४-५

७. **ब्रह्मदेव**, परमात्मप्रकाश टीका, २।१६२ पृष्ठ २७४

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक है। इसी को प्रत्याहार कहते हैं।[१] आचार्य शुभचन्द्र[२] और हेमचन्द्र[३] ने प्रत्याहार का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि इन्द्रियों और मन को उनके विषयों से खींचकर प्रशान्त बुद्धि वाले साधक द्वारा अपनी इच्छानुसार उन्हें जहाँ चाहे वहाँ लगाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार की विधि प्रतिपादित करते हुए बतलाया गया है कि योगी इन्द्रियों को विषयों से अलग करके मन को इन्द्रियों से अलग करे और निराकुल मन को ललाट पर लगाये। प्रत्याहार धर्म-ध्यान के लिए आवश्यक है। प्राणायाम से मन विक्षिप्त हो जाता है, इसलिए समाधि की सिद्धि के लिए प्रत्याहार करना आवश्यक होता है, अर्थात् प्रत्याहार से मन पुनः स्वस्थ होकर समस्त रागादि रूप उपाधियों से रहित होकर समभाव युक्त हो जाता है और आत्मा में लीन हो जाता है।[४] इस प्रकार प्रत्याहार योगी के लिए आवश्यक है।

धारणा—पातंजल दर्शन में योग का छठा अंग धारणा है। प्रत्याहार के द्वारा योगी का मन स्थिर हो जाता है। उस स्थिर मन को देश-विशेष में स्थिर करना धारणा है।[५] आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के अनुसार ललाट, नेत्रयुगल, दोनों कान, नाक का अग्रभाग, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और दोनों भौंहों के मध्यभाग में से किसी एक पर चित्त को स्थिर करना धारणा है।[६] योगदर्शन में उपर्युक्त धारणा के आध्यात्मिक देशों के अलावा सूर्य, चन्द्र और अग्नि को धारणा के बाह्यदेश कहा है। '**सिद्धान्तचन्द्रिका**' में महाभूत विषयक धारणा—पार्थिवीय धारणा, जलीय धारणा, तैजसीय धारणा, वायुवीय धारणा तथा नाभसी धारणा—का भी उल्लेख है। इनका दूसरा नाम क्रमशः स्तंभिनी, प्लाविनी, दहनी, भ्रामणी तथा समनी है।[७] आचार्य हेमचन्द्र[८] ने भी इन पाँच धारणाओं का विस्तृत विवेचन किया है।

---

१. इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते विमुखीक्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः।
डॉ० (कु.) विमला कर्णाटक, भा. द. (संपादक डॉ० न. कि. देवराज) पृष्ठ ४१५

२. समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ॥ —ज्ञानार्णव ३०।१

३. इन्द्रियैः समाकृष्य विषयेभ्यः प्रशान्तधीः।
धर्मध्यानकृते तस्मात् मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥ —योगशास्त्र, ६।६

४. ज्ञानार्णव, ३०।४-५

५. 'देशबन्धश्चित्तश्य धारणा' —योगसूत्र, ३।१

६. (क) नाभि-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति ध्यान-स्थानान्यकीर्तयन्। —योगशास्त्र ६।७-८
(ख) शुभचन्द्र, **ज्ञानार्णव**, ३०।१३

७. आ० नारायण तीर्थ, **योग या सिद्धांतचन्द्रिका**, पृ० १०५ **और** भी देखें भा० द० (संपादक डॉ० न० कि० देवराज), पृ० ४१६

८. पार्थिवी स्यादथावनेयी मारुती वारुणी तथा।
तत्रभूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पंच धारणा ॥ —**योगशास्त्र**, ७।९, ७।१०-३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान—योग-दर्शन में योग का सातवां अंग ध्यान बतलाया गया है। जैनदर्शन में ध्यान का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, क्योंकि ध्यान मोक्ष का कारण माना गया है। **योगदर्शन** में पतंजलि ने ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जब धारणा के देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप होने लगता है तब वह ध्यान कहलाता है।[1] जैन-दर्शन में उमास्वाति, आ० पूज्यपाद, कार्तिकेय, रामसेनाचार्य आदि आचार्यों ने ध्यान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि विभिन्न विषयों का चिन्तन करने से चित्त चंचल होता है। उसे समस्त विषयों से हटाकर एक ही विषय का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है।[2] अतः एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान कहते हैं। **ज्ञानार्णव, ध्यानशतक, ध्यान-शास्त्र, योगशास्त्र** आदि में ध्यान के भेद, ध्याता, ध्येय, ध्यान-फल, ध्यान के योग्य देश-काल-अवस्था आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अन्य ध्यानों के अलावा सवीर्यध्यान, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यान का अनन्य वर्णन किया है।[3] योगियों के लिए '**ज्ञानार्णव**' ध्यान का अविकल ग्रन्थ है।

समाधि—योग का अन्तिम अंग समाधि है। भट्ट अकलंकदेव ने ध्यान और समाधि को ही योग का चरम लक्ष्य माना है। योगदर्शन-सम्मत समाधि के लिए जैनदर्शन में शुद्धोपयोग शब्द का प्रयोग हुआ है। समाधि की व्युत्पत्ति की गई है कि '**सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः**'[4] अर्थात् अच्छी तरह से विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना समाधि है। 'समाधि' शब्द 'सम+अधि' से बना है। सम का अर्थ एक रूप करना है। अतः समाधि का अर्थ हुआ मन को उत्तम परिणामों में अर्थात् शुभोपयोग या शुद्धोपयोग में एकाग्र करना।[5] समाधि अवस्था में ध्यान, ध्येय और ध्याता का भेद मिट जाता है। समाधि में बाह्य और आन्तरिक समस्त प्रकार के जल्पों का क्षय हो जाता है और एक मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का चिन्तन होता है।[6]

---

१. 'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।' —**योगसूत्र** ३।२

२. (क) एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। —त. सू. ९।२७

(ख) अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४७०

(ग) एकाग्र चिन्तनं ध्यानं…………एकाग्र-चिन्ता-रोधे यः परिस्पन्देन वर्जितः
—श्री रामसेनाचार्य, तत्त्वानुशासन, श्लोक ३८, ५६ और भी देखें ६०-६१.

३. **ज्ञानार्णव** ३१ सर्ग, ३७ सर्ग, ४१ सर्ग। **योगसार** ७-१० प्रकाश।

४. द्रष्टव्य—उपाध्याय बलदेव, भा० द०, पृ० ३०४

५. (क) समेकीभावे वर्तते……। समाधानं मनसः एकाग्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा।
—**भगवती आराधना**, विजयोदया टीका ६४ पृ० १९४

(ख) यत्सम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधानमंजसा।
स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्॥ —जिनसेन, महापुराण, २१।२२६

६. सयल-वियप्पहं जो विलउ परम समाहि भणंति।
तेण सुहासुह-भावणा मुणि सयलवि मेल्लंति॥ —**परमात्मप्रकाश**, २।१९०

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है—"वचनोच्चारण की क्रिया का त्याग कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है। दूसरे शब्दों में संयम, नियम, तप और धर्मध्यान-शुक्लध्यान से आत्मा का ध्यान करना समाधि है।[1] **योगदर्शन** में समाधि के दो भेद बतलाये गये हैं—(१) सम्प्रज्ञातसमाधि एवं (२) असम्प्रज्ञातसमाधि। सम्प्रज्ञातसमाधि को सबीजसमाधि भी कहा गया है। इस समाधि में मन एक वस्तु पर केन्द्रित रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में मन का व्यापार चलता है। इसकी तुलना चौथे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थानवर्ती योगी की योग अवस्था से की जा सकती है। हरिभद्र ने **योगबिन्दु** में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय, इन पाँच को अध्यात्म विकास की भूमिकाओं में विभाजित किया है।[2] इनमें से आदि की चार भूमिकाओं की तुलना सम्प्रज्ञातसमाधि से की जा सकती है।[3] असम्प्रज्ञातसमाधि में किसी विषय का चिन्तन नहीं किया जा सकता है। इसे निर्बीज-समाधि भी कहा गया है। इसकी तुलना जैनदर्शन में मान्य अयोगकेवली से की जा सकती है। हरिभद्र ने इस असम्प्रज्ञातसमाधि को वृत्तिसंक्षय कहा है।

हरिभद्रीय योगांगों के साथ पातंजल-योगाष्टांग की तुलना—हरिभद्र ने **'योगदृष्टि-समुच्चय'** में योग के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ अंग बतलाये हैं[4] तथा उनका विस्तृत स्वरूप-विवेचन भी किया है।[5] हरिभद्र ने मित्रा की यम, तारा की नियम, बला की आसन, दीप्रा की प्राणायाम, स्थिरा की प्रत्याहार, कान्ता की धारणा, प्रभा की ध्यान और परा की समाधि से तुलना की है।[6]

आ. रामसेनीय योगाष्टांग की पातंजल-योगाष्टांग से तुलना—आचार्य रामसेन ने **'तत्त्वानुशासन'** (ध्यान-शास्त्र) में योग-साधन के आठ अंग इस प्रकार बतलाये हैं—ध्याता, ध्यान, ध्यान का फल, ध्येय, ध्यानस्वामी, ध्यानक्षेत्र, ध्यानकाल और ध्यानावस्था।[7] इन आठ अंगों का सूक्ष्म विवेचन उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। युगवीर जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य रामसेन के उक्त योग के आठ अंगों की तुलना पातंजल के आठ योगांगों से मुख्य-गौण दृष्टि एवं स्वरूप आदि की दृष्टि से की है। उदाहरणार्थ यम और नियम का अन्तर्भाव धर्मध्यान और संवर में, ध्यान और समाधि का ध्यान में तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का ध्यान की अवस्था एवं प्रक्रिया में अन्तर्भाव होता है।

---

१. नियमसार, गा. १२२-१२३
२. हरिभद्र, योगबिन्दु, कारिका ३१
३. (क) वही, कारिका, ४२८, ३१, ४२०
   (ख) दृष्टव्य- पं० सुखलाल संघवी, समदर्शी आ० हरिभद्र, पृष्ठ १०१;
   दर्शन और चिन्तन, पृष्ठ २६५
४. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कांता प्रभा परा।
   नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत। —योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक १३
५. दृष्टव्य वही, श्लोक २१-१८६
६. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारत:।
   अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक १६
७. आ. रामसेन, तत्त्वानुशासन, श्लोक ३७-४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन और योग-दर्शन में योग के स्वरूप और उसके अंगों के कथन में शब्दों के हेर-फेर के साथ समानता है। योगदर्शन में जो योग की परम्परा उपलब्ध है वह पतंजलि की मौलिक देन नहीं है अर्थात् पतंजलि योगसिद्धांत के आविष्कारक (प्रतिपादक) नहीं थे। यह सिद्धांत उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था। लेकिन इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है उन्होंने योग-सिद्धांत को परिमार्जित कर उसका विकास/प्रचार कर उसे अपनाने के लिए लोगों को प्रेरित किया है।

प्राध्यापक,
प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान
वैशाली (बिहार) २४४१२८

□□

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org